



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2021; 7(1): 331-334

© 2021 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 16-11-2020

Accepted: 25-12-2020

डॉ. महेश कुमार शर्मा

(सहायक आचार्य), राजकीय शास्त्री
संस्कृत महाविद्यालय, महापुरा,
जयपुर, राजस्थान, भारत

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में संस्कृत का उपयोग

डॉ. महेश कुमार शर्मा

प्रस्तावना

आर्य सभ्यता के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य है उसके द्वारा इस संसार में शारीरिक मानसिक आर्थिक और नैतिक अभ्युदय और परलोक में परम निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति। हमारे ऋषि मुनियों की दृष्टि में विद्या वही है जो हमें अज्ञान के बंधन से विमुक्त कर दे - सा विद्या या विमुक्तये।¹

भगवान श्री कृष्ण ने गीता में 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्'² कहकर इसी सिद्धांत का समर्थन किया है। इसी उद्देश्य से आर्यजाति के पवित्रहृदय और समदर्शी त्रिकालज्ञ ऋषियों ने चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास) की सुंदर व्यवस्था की थी। ब्रह्मचर्य के कठोर नियमों का पालन करता हुआ ब्रह्मचारी विद्यार्थी जब संयम की व्यावहारिक शिक्षा के साथ ही साथ लौकिक और पारलौकिक कल्याणकारी विद्याओं को पढ़कर, सब प्रकार से शरीर, मन और वाणी से स्वस्थ एवं संयमी होकर गुरुकुल से निकलता था, तब वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर क्रमशः जीवन को और भी संयममय, सेवामय और त्यागमय बनाता हुआ अन्त में सर्वत्याग करके परमात्मा के स्वरूप में निमग्न हो जाता था। यही हमारी आर्यसंस्कृति का स्वरूप था।

विषय उपस्थापन

उपर्युक्त विवरण से यह सुस्पष्ट है कि भारतीय महर्षियों की विचारधारा में नियन्त्रित भौतिक विज्ञान-कला-कौशल आदि का उन्नतिपूर्वक आध्यात्मिक उन्नयन करते हुए परमात्मतत्त्व की उपलब्धि जिस शिक्षा के द्वारा हो, वही शिक्षा सर्वाङ्गपूर्ण आदर्श शिक्षा है। जैसा कि पंडित मधुसूदन झा ने ब्रह्मसमन्वय में कहा है - 'विद्यास्ति ज्ञानविज्ञानदर्शनः संस्क्रियात्मनि।³ अर्थात् ज्ञान विज्ञान एवं दर्शनों से आत्मा में एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न करना ही विद्या है। जब तक देश में यह आश्रम-सम्मत शिक्षापद्धति प्रचलित थी, तब तक आर्य संस्कृति सुरक्षित थी और सभी श्रेणी के लोग प्रायः सुखी थे। लेकिन जब से अनेक प्रकार की विपरीत परिस्थितियों में पड़कर मोहवश हमने अपनी इस आश्रम-सम्मत शिक्षापद्धति को ठुकराया, तभी से हमारी आदर्श आर्य संस्कृति में विकार आने लगे।

Corresponding Author:

डॉ. महेश कुमार शर्मा

(सहायक आचार्य), राजकीय शास्त्री
संस्कृत महाविद्यालय, महापुरा,
जयपुर, राजस्थान, भारत

आज बीसवीं शताब्दी में तो हमारी संस्कृति की सुदृढ़ नौका हमारे ही हाथों नष्ट भ्रष्ट होकर डूबने जा रही है। ऐसा मतिभ्रम हुआ है कि विनाश के गहरे गर्त में गिरना ही आज हमारे उन्नयन का निदर्शन हो गया है। इसमें युग प्रभाव तो प्रधान कारण है ही परन्तु उसकी सिद्धि में एक बड़ा निमित्त है हमारी यह वर्तमान धर्महीन शिक्षा पद्धति। वर्तमान शिक्षण संस्थानों में अध्ययन करने वाले अधिकांश विद्यार्थियों में न्यूनाधिक रूप से, क्रियारूप में अथवा वैचारिक रूप में निम्नलिखित दोष मिलेंगे, जो विद्यार्थी ब्रह्मचारी जीवन से सर्वथा प्रतिकूल है - ईश्वर और धर्म में अविश्वास, संयम का अभाव, ब्रम्हचर्य का अभाव, माता पिता एवं गुरुजनों में अश्रद्धा, प्राचीनता के प्रति विद्वेष, विलासिता और फिजूलखर्ची, कृषि अथवा घरेलू कलाकौशल के कार्यों में करने में लज्जा और सरलता का अभाव। इन्हीं दोषों के परिणामस्वरूप हम विद्यार्थियों में स्वाभाविक, व्यवहारिक एवं चारित्रिक परिवर्तन भली-भांति देख सकते हैं।

हमारी वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में आए हुए इन दोषों का निराकरण करना अवश्यम्भावी है। यदि यथासमय इन दोषों का निराकरण नहीं किया गया तो यह हमारी सभ्यता और संस्कृति की परिचायक शिक्षा व्यवस्था को विध्वंस कर देंगे। निसन्देह इन दोषों के निराकरण का मुख्य स्रोत है संस्कृत वाङ्मय। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में हम संस्कृत वाङ्मय का बहुतायत मात्रा में उपयोग करते हुए इन दोषों का निराकरण कर सकते हैं। संस्कृत वाङ्मय में वे समस्त शिक्षा के मूल उद्देश्य विद्यमान हैं जिनसे हम विद्यार्थियों को आदर्श एवं उत्तम शिक्षा प्रदान कर सकते हैं।

आधुनिक शिक्षा का सम्बन्ध अध्यात्म एवं धर्म से न होने के कारण शिक्षक एवं छात्रों के मध्य अर्थ के साथ विद्या का विनिमय मात्र समझा जाने लगा है। शिक्षा का उद्देश्य नौकरी मात्र होने के कारण समाज धर्मभ्रष्ट, आचारभ्रष्ट एवं उत्तरोत्तर लक्ष्यहीन पथभ्रष्ट होता जा रहा है। इसका राजनीतिक गठबन्धन तो दोनों के साथ राष्ट्र को भी पीड़ित करने लगा है।

शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिसमें अध्यात्मवाद, धर्म एवं मानवोचित पूर्णता की अभिव्यक्ति का समन्वय हो और यह सारे सिद्धान्त संस्कृत वाङ्मय में निहित है।

“एतद्देश प्रसूतस्य सकासादग्रजन्मनः।स्वयं स्वं चरित्रं

शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ “(मनुस्मृति 2.20)

अर्थात् इस भारतवर्ष के प्रांगण में पैदा हुये समस्त मानवों को अग्रजन्मा ब्राह्मण से अपने अपने चरित्रों की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

वेद आर्यों का स्वतंत्र प्रामाणिक शास्त्र है। तदनन्तर वेदानुकूल स्मृतिग्रंथों का प्रामाण्य है। जिसमें वर्ण व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है। वेद प्रतिपादित चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) को अपने-अपने धर्मों की शिक्षा ग्रहण करना अनिवार्य है। वर्णाश्रम व्यवस्था के बिना स्वधर्म का पालन करना कठिन होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में जगद्गुरु योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा भी है - 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'।⁵ (श्रीमद्भगवद्गीता - 3.35)

अर्थात् इस पृथ्वी पर सभी मनुष्यों के लिए स्वधर्म का पालन करना ही श्रेयस्कर है। स्वधर्म में मर मिटना ही श्रेयस्कर है। पराया धर्म भयावह होता है। खान-पान, आचार-विचार, रहन-सहन वेश-भूषा आदि में स्वच्छंदता पर अंकुश लगाना ही शिक्षा का मूल उद्देश्य है। शिक्षा भी धार्मिक होनी चाहिए, जिसके अभाव में वर्ण व्यवस्था लुप्त सी हो रही है। पाश्चात्य शिक्षा अर्थपरक है, उसमें स्वधर्म का लवलेश भी नहीं है। सुशिक्षा सदबुद्धि से गृहीत होती है। सदबुद्धि सदन्नभक्षण से होती है। शुद्ध अन्न के सेवन से सदबुद्धि द्वारा सदाचार में तत्पर होकर आत्मकल्याण करना ही शिक्षा का महत्व है। सुशिक्षित मनुष्य ही सर्वत्र आदरणीय होता है। अतः भारतीय शिक्षा के बिना भारतीयता धूमिल है। भारतीय शिक्षा से ही भारतीय संस्कृति की सुरक्षा सम्भव है और भारतीय संस्कृति भी संस्कृत भाषा के अध्ययन-अध्यापन के बिना सुरक्षित नहीं रह सकती। क्योंकि संस्कृत भाषा के ग्रंथों - रामायण, महाभारत, पुराण आदि में ही भारतीय संस्कृति कूट-कूट कर निहित है। उसकी शिक्षा के अभाव में स्वधर्म-कर्म का ज्ञान ही अशक्य है, जिसके बिना आज के भारतीय शिक्षा, सूत्र, परिधान आदि से विहीन होते जा रहे हैं। पाश्चात्य सभ्यतावश भारतीयता का स्वरूप तिरोहित होता जा रहा है। अतः जब तक भारतीय प्रथा विद्यमान रहेगी, तब तक भारत भारत ही रहेगा। इसलिए भारतीय धर्म की शिक्षा ग्रहण करना भारतीय मानवों का मुख्य कर्तव्य है। स्वकर्म करना और स्वकर्म का परित्याग करना - इन दोनों में स्वकर्म-परायणता ही विशिष्ट है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है -

सन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।

तयोस्तु कर्मसन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥

(श्रीमद्भगवद्गीता 5.2)

अर्थात् शिक्षा द्वारा सम्पन्न स्वधर्म-कर्मों में कुशलता प्राप्त करना ही योग है। कुशलता भी कर्तव्य की शिक्षा बिना अलभ्य है।

प्राचीन महर्षियों ने कठोर तपस्या करके अपने तपोबल से मानव के हितार्थ जिन साधनों का विधान बताया है, उनकी जानकारी न होने से भारतीय मानव आध्यात्मिक ताप (ज्वर, चिन्ता, विषाद आदि) आधिभौतिक ताप (चोरी, डकैती, हिंसा आदि) और आधिदैविक ताप (अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अकाल आदि) - इन त्रिविध तापों से संतप्त हो रहा है। इन त्रिविध तापों के नाशक उपाय संस्कृत भाषा में निबद्ध इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, मन्त्रशास्त्र, आयुर्वेदशास्त्र आदि आर्ष ग्रंथों में वर्णित है। उनका ज्ञान नहीं होने से त्रिताप तापित प्राणी सुख शान्ति कैसे प्राप्त कर सकता है। जिस देश का जो जन्तु होता है, उसके रोग का निदान भी उसी देश की औसध से हितकर है। जैसा कि सुश्रुतसंहिता में महर्षि सुश्रुत ने कहा है-

'यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जं तस्यौषधं हितम्'¹⁷
(सुश्रुतसंहिता)

शास्त्रीय दृष्टि से सभी व्यवहार करना ही परम धर्म है, लौकिक अनुकरण करना नहीं। वेदव्यास जी ने ब्रह्म सूत्र में कहा है कि - 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशः'। अर्थात् शास्त्रीय दृष्टि से शिक्षा देनी चाहिए, न कि लोकदृष्टि से। शास्त्र की शिक्षा का लक्ष्य अर्थ नहीं है, किन्तु अध्यात्म-तत्त्व का ज्ञानोपार्जन करना है। उस आध्यात्मिक विद्या का केन्द्र भारत ही है, विदेश नहीं। इसलिए भारतीय शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन द्वारा अध्यात्म-तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है। अर्थकरी विद्या अनर्थकारिणी भी हो सकती है, क्योंकि अर्थ ही अनर्थ रूप है। अपना कल्याण चाहने वालों को अर्थाशक्ति का परित्याग कर देना ही श्रेयस्कर है। कहा भी है - 'तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यज्येत्'¹⁸
(श्रीमद्भगवद्गीता 11.23.19)

हितोपदेश में भी कहा है -

अर्थानामर्जने दुःखं संचितानां च रक्षणे ।

नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशसंश्रयान्¹⁹
(हितोपदेश)

अर्थात् जिस अर्थ के उपार्जन में दुःख, अर्जित धन की सुरक्षा में दुःख, नष्ट हो जाने पर दुःख, अधिक खर्च हो जाने पर दुःख हो, ऐसे अर्थ से सुख ही क्या मिलेगा।

अतः हमें शास्त्र की दृष्टि से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए न कि अर्थ की दृष्टि से। आजकल धर्म एवं न्याय व्यवस्था में बल का प्रयोग होता है, इसमें शिक्षा का अभाव ही मुख्य कारण है। शिक्षा में भी गुरु शिष्य भाव की आवश्यकता है, उद्दण्डता कि नहीं। गुरुभाव से गुरु की कृपा द्वारा तत्व का ज्ञान प्राप्त होता है। तत्वदर्शी ज्ञानी पुरुष ही उपदेष्टा होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा भी है -

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ 10
(श्रीमद्भगवद्गीता 4.34)

शिक्षान्त शिक्षा

अध्ययन कराने के अनन्तर आचार्य शिष्य को उद्बोधित करते हुए सदाचार, संयम, शील, सत्य, स्वाध्याय, सत्संग और सन्मार्गदर्शन की शिक्षा अनुपम रीति से प्रदान करते थे। वे धर्म नियन्त्रित अर्थ और काम के द्वारा मोक्षोपयोगी जीवन जीने की अद्भुत विद्या का दिग्दर्शन कराते थे। आचार्य शिष्यों को देव-पितृ कार्यों से विमुख नहीं कराते थे। माता-पिता और आचार्य के प्रति कृतज्ञ तथा अतिथि के प्रति अनुरक्त बनाते थे। जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषद में कहा है -

“देव-पितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव ।
पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव ।
यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो
इतराणि¹¹ (तैत्तिरीयोपनिषद 1.11)

निष्कर्ष

किन्तु वर्तमान में प्रायः आचार्य बलविशेष के बल पर स्वभावसिद्ध दोष और दुर्बलताओं से शिष्य को अवगत नहीं करा कर अन्धानुकरण की अपेक्षा रखते हैं। साथ ही अपने से भिन्न किन्हीं सन्मार्गगामी सत्पुरुष के मार्गदर्शन का भी निषेध करते हैं। जिसके परिणाम स्वरूप भारतीय समाज के नैतिक स्तर पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। धर्म, नैतिकता, सत्य निष्ठा तथा आध्यात्मिकता से हीन वर्तमान शिक्षा राष्ट्र के प्रत्येक स्तर पर स्थिरता एवं अशांति का निमित्त बन रही है।

भारतीय शास्त्रों के पठन-पाठन के बिना भविष्य में उपदेशक शिक्षकों की उपलब्धि न होने पर सभी शास्त्र जीर्ण गृह के समान रह जाएंगे। पुनः शास्त्र शिक्षा कहां से उपलब्ध हो सकेगी इसलिए नीचे से ऊपर तक पाठ्यपुस्तकों में संस्कृत वाङ्मय युक्त भारतीय शिक्षा का समावेश होना नितान्त आवश्यक है। तभी महर्षि ब्रह्मर्षि राजर्षियों के अधूरे उद्देश्य पूरे हो सकेंगे। शिक्षा दूषित होने से शिक्षित भी दूषित होगा तथा जीवन के सभी क्षेत्र भी दूषित होंगे। अतः यदि राष्ट्र और मानव को बचाना है तो तत्काल प्रभाव से वर्तमान शिक्षा में संस्कृत वाङ्मय का उपयोग होना आवश्यक है। शिक्षा को केवल अक्षर एवं पुस्तक ज्ञान का माध्यम न बनाया जाय, शिक्षित को केवल भौतिक उत्पादन वितरण का साधन न बनाया जाय अपितु नैतिक मूल्यों से अनुप्रमाणित कर आत्मसंयम, इंद्रियनिग्रह, प्रलोभनोपेक्षा तथा नैतिक मूल्यों का केन्द्र बनाकर भारतीय समाज, अन्ताराष्ट्रीय जगत् की सुख शांति और समृद्धि को माध्यम तथा साधन बनाया जाय। ऐसी शिक्षा निश्चित ही स्वर्ग लोके च कामधुग् भवति।

सन्दर्भ

1. तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये।
आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम्॥
विष्णुपुराण 1-19-41
2. अध्यात्म-विद्या विद्यानाम् वादः प्रवदताम् अहम् ॥
श्रीमद्भगवद्गीता 10-32
3. अभिनव गवेषणा पेज नंबर 3 vol. 5
4. मनुस्मृति 2-20
5. श्रीमद्भगवद्गीता – 3-35
6. श्रीमद्भगवद्गीता 5-2
7. भा.प्र.पू.स. 4
8. श्रीमद्भगवद्गीता 11-23-19
9. हितोपदेश
10. श्रीमद्भगवद्गीता 4-34
11. तैत्तिरीयोपनिषद् 1-11